उथली गहराईयाँ

(ग़ज़ल एवं कविता संग्रह)

संजय चौरसिया

सुविधा प्रकाशन

घंटाघर दमोह 470 661 (म० प्र०)

❑ प्रकाशक :
सुविधा प्रकाशन
घंटाघर,दमोह-470 661 (म० प्र०)

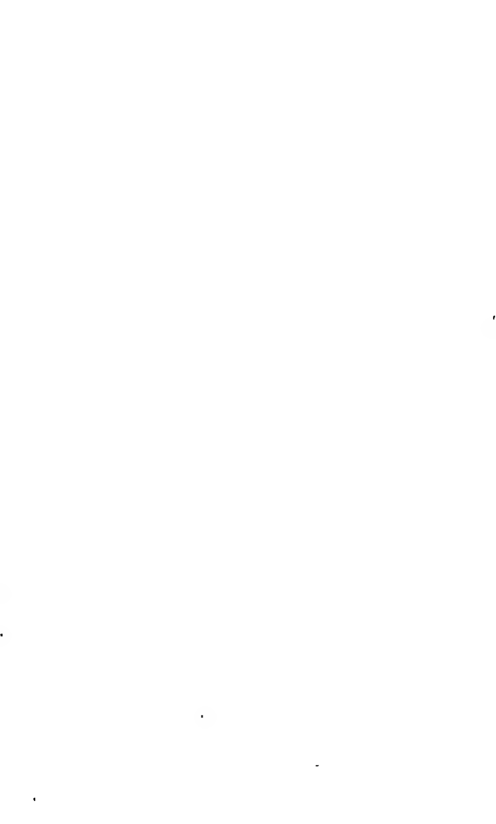
❑ मुद्रक :
सुलेख मुद्रणालय
148, हिवेट रोड, इलाहाबाद

❑ लेजर सेटिंग
ग्राफिक एड्स
इलाहाबाद-3

❑ प्रथम संस्करण : 2001

❑ मूल्य : 60/- रुपये

रचना क्रम



आत्म कथ्य

समय की
अनन्त लंबाई में
दर्ज हो जाना चाहता हूँ
परछाई की तरह
इंच दो इंच ही सही
समय की
अनंत यात्रा में
बन जाना चाहता हूँ
मील का पत्थर
नये-नये रास्तों और
मंजिलों को खोजते हुए
चलते हुए
कदम दो कदम

संजय चौरसिया



ग़ज़ल

उथली गहराईयाँ

रात अंगार की सेज सोना पड़ा
ये न समझें कि यूँ ही ग़ज़ल हो गई।

ग़ज़ल की इस विस्तृत पृष्ठभूमि पर यदि देखा जाये तो संजय चौरसिया ने अपनी ग़ज़लों में विकासशील जीवन दृष्टि के साथ सामाजिक चेतना और मानवीय सदाशयता का परिचय दिया है। मनुष्य के प्रति प्रतिबद्धता ग़ज़ल को सामाजिक उत्थान की लड़ाई में एक भरोसे का हथियार बना सकती है। संजय चौरसिया की यही प्रयोजनीयता इन ग़ज़लों में दृष्टव्य है। व्यवस्था के प्रति आक्रोश और गहरा असंतोष युवा रचनाकार की प्रत्येक ग़ज़ल में दिखलाई पड़ता है।

इन ग़ज़लों में कारोबारी दुनिया के आर्थिक दबाव, राजनीतिक उत्पीड़न, पर्यावरण की रुग्णता, और अमानवीकृत संसार के षड़यंत्री हथकंडों का खुला शब्दांकन है। इतना ही नहीं, जीवन के गहन अनुभव, गहरी सोच-समझ और भीड़ में आदमी की जिंदगी को विविध परिभाषाओं में तलाशने की कोशिश भी है। युवा ऊर्जा-उष्मा ग़ज़ल को दमखम देती हैं।

यह सच है कि कहीं-कहीं ग़ज़ल में कसाव, गठन और शब्द-सौष्ठव की कमज़ोरी भी लक्षित होती है लेकिन किसी भी युवा रचनाकार के प्रथम संकलन को आदर्श पैमाने के हिसाब से नहीं नापा जाना चाहिए। इन शेरों में जो वैविध्य दिखलाई देता है, वह इस बात का सबूत है कि संजय चौरसिया की नज़र चौतरफा व्याप्त दैन्य यातना और बेचैनी को संवेदना के साथ देखती है और जीवन के संघर्ष तथा दाँव-पेंचों के बीच विश्वासभरी उम्मीदों को पाना चाहती है। अक्सर लोग दुष्यन्त की परम्परा में उभरते रचनाकारों को अपनी मुहर लगाने के आदी हैं लेकिन मेरी राय में संजय की रचनाधर्मिता को एक स्वतंत्र पहचान देने की आवश्यकता है।

एल० आई० जी० 6, पद्माकर नगर
सागर

हनुमान जयंती 10-4-2000

एक

अब अपने घर से लेकर बाज़ार तक
आदमी सिमट गया है कारोबार तक

माना कि दीवारों के कान होते हैं, मगर-
लोग पहुँचने नहीं देते चीख दीवार तक

मेरा ही हाथ रहा है इन दोनों में
तेरी जीत से लेकर अपनी हार तक

जंगल काट कर और बगीचे लगाकर
हम पहुँच गये तरक्की की कगार तक

अपने डूबने का शिकवा क्या करें
हम खुद लाये थे नाँव मझधार तक।

दो

जो होना है आज, अभी, इसी पल हो जाये
खून जमने से पहले कोई ग़ज़ल हो जाये

इतना भी मत रोकिये इस बहते पानी को
कहीं ऐसा न हो कि हर नदी चंबल हो जाये

सूखने मत दीजिए गर्मियों में इस कीचड़ को
शायद बरसात तक इसमें भी कँवल हो जाये

लोग बिछड़ जायें एक-दूसरे से ये ठीक नहीं
कि मेले में भी ऐसी चहल-पहल हो जाये

इस तरह से मत काटिए आप इन जंगलों को
कहीं ऐसा न हो कि दुनियाँ फिर जंगल हो जाये।

तीन

जिस्म में अभी खून का कतरा तो है
छोटा ही सही लेकिन खतरा तो है

सहने के लिए हो गया नासूर जो
कहने के लिए जख्म मेरा भरा तो है

कितना सच कह रहा था आइना हमसे
कि आदमी के चेहरे पे चेहरा तो है

हम आज तक जी रहे हैं यही सोचकर
कि हो न हो हमारा कल सुनहरा तो है

ऐसा न हो वो दिल का अरमान बन जाये
घर में मेहमान बन कर ठहरा तो है।

चार

ये सन्नाटा तो चकल्लस करता बहुत है
आता है पल भर को पर ठहरता बहुत है

सोचा था कि पहाड़ चढ़कर चाँद छू लेंगे
छत वाले सच कहते हैं, – फासला बहुत है

अब ख्वाब भी साफ नजर नहीं आते मुझे
घर में मेरे धुआँ भी तो भरता बहुत है

मैंने पहले ही कहा था कि बकरी पालो
अब कहते हो कि ये घोड़ा चरता बहुत है

इसे काटकर फेंको या उखाड़ कर यारो
ये बेसरम का पौधा है बढ़ता बहुत है।

पाँच

लाजमी है अपनी हसरतों में कमी रखना
अब तो बेहतर है खुद को जख्मी रखना

खुश्क दिल है यहां हर किसी के सीनों में
तुम अपनी आँखों में थोड़ी सी नमी रखना

फरिश्तों का निजाम तो फरिश्ते ही जानें
तुम आदमी हो तो खुद को आदमी रखना

खून जम न जाये, धड़कन रुक न जायें कहीं
अपने ख्यालों में बस इतनी गरमी रखना

तुम्हारा प्यार इक भरम ही सही लेकिन
जीने के लिए जरूरी है ये गलतफहमी रखना।

छः

इस बात पे किसी को हैरत नहीं रही
कि आजकल के बच्चों में शरारत नहीं रही

सर पे हमारे खुला आसमान तो है यारो
क्या हुआ गर सर पे कोई छत नहीं रही

जो कुछ करना था दोस्तों ने कर डाला
मुझको किसी दुश्मन की जरूरत नहीं रही

वो हैं कि सच सुनने के आदी नहीं, और
मुझे झूठ कहने की कभी आदत नहीं रही

हम कोई खुशी मनाते भी तो किस तरह
जिन्दगी में गमों से ही फुर्सत नहीं रही।

सात

दर क्या कि दीवार क्या है
हमारा घर-द्वार क्या है

हमारे लिए ठंड, धूप, भूख-
पानी की बौछार क्या है

सर पे लाखों का इनाम है
उसको धुन सवार क्या है

जमाना आपके पीछे है
आपकी रफ्तार क्या है

खुशियाँ खरीद लेते हैं
आपका कारोबार क्या है

आठ

खेत-खेतों में तो अच्छी फसल होती है
बदनाम है बारिश तो वे-दखल होती है

इन घुँघरुओं को तो कोई कुछ नहीं कहता
बजते ये हैं, - बदनाम पायल होती है

मेरी बातें लोगों तक पहुँचाते रहना
मुश्किल से ऐसी बातों की पहल होती है

अगर, कर सको तो फिर इसे तुम पैदा करो
ये दुनियाँ सिर्फ हुनर की कायल होती है

तन्हा गुजरती है जिन्दगी उन शायरों की
महफिल में सदा जिनकी ग़ज़ल होती है।

नौ

ये भी शामिल है अब कारोबार में
कि पानी बिक रहा है बाजार में

क्यों न मातम पे जश्न मना लें
मौत आती है अब त्योहार में

हम कैद हुए तो हमने ये जाना
कि खुली छूट है कारागार में

किनारे पे डूबने से अच्छा था
के हम डूब जाते मझधार में

आँखें निकाल कर रख दीं हमने
क्या ये काफी नहीं इन्तजार में।

दस

रिश्तों को तो ब-खूबी निभाना सीखिए
कम-ज-कम झूठी कसमें खाना सीखिए

दिल का लगाना अब मुनासिब नहीं है
जैसे भी हो दिल को बहलाना सीखिए

आपके ज़ख़्म भी भर जायेंगे एक दिन
औरों के ज़ख़्मों को सहलाना सीखिए

फूलों की चाहत बाद में कर लीजिए
पहले काँटों से दामन बचाना सीखिए

सच बोलने की आदत पड़ जाये तुम्हें-
इससे पहले, जुबान चलाना सीखिए

बाद में कीजिएगा औरों पर यकीन
पहले तो खुद फरेब खाना सीखिए

हर महफिल इक-न-इक दिन उजड़ जाती है
हो सके तो अपना घर सजाना सीखिए।

ग्यारह

सबको खबर हो गई, सबको पता हो गया
आदमी भरी दुनिया में, लापता हो गया

क्या कहें शहर के चलन को क्या न कहें
गाँव में पेड़ पीपल का देवता हो गया

इक खुशी की चाह में निकले थे हम
न जाने कितने गमों से वास्ता हो गया

आदमी कैसे बनता आदमी आखिर
आदमी तो कब का फरिश्ता हो गया

पहले अपना रहा फिर बेगाना हो गया
मेरे उसके बीच अजब रिश्ता हो गया।

बारह

उन्हें जिन्दगी के आराम थे कितने
जिनके सर पे कभी इनाम थे कितने

कसमें खाने का तो रिवाज़ चल पड़ा है
हमें पता है खून के रिश्ते आम थे कितने

हमें मत सिखाओ, हमने भी पढ़ा है
कि ईसा थे कितने, राम थे कितने

यूँ तो रोशनी में वो सभी थे मगर
उर्फ़ थे कितने और बनाम थे कितने

तेरी तलाश में खुद ही भटकता फिरा
वर्ना ठहरने के लिए मुकाम थे कितने।

तेरह

देख आदमी से आगे उसके साये हुए हैं
कि ये चिमनियों के धुएँ सूरज छुपाये हुए हैं

जो कि हमने अपने खून से बनायी थी कभी
आप उन्हीं तस्वीरों से घर सजाये हुए हैं

चिंगारी समझ कर डरते हैं जो जुगनुओं से
कल जो घर-जले थे इन्हीं के जलाए हुए हैं

एक तुम हो कि हाथ पे हाथ रखे बैठे हो, और-
एक हम हैं कि अंगुली पे पहाड़ उठाए हुए हैं

सुनो बोलते नहीं हैं पर गूँगे भी नहीं हम
अपने हाथों से अपना गला दबाये हुए हैं।

चौदह

पानी पर भी गर पाँव के निशान होते
तो जुर्म रोकने वालों के इम्तहान होते

मैंने कब चाहा उम्र भर का साथ-काश तुम
मेरे घर मे दो घड़ी के मेहमान होते

कुछ तो होता कहीं पे हिस्सा हमारा भी
हम तीर न सही कम-ज-कम कमान होते

सुनसान में लुटने से तो ये अच्छा था
कि हम मेले में लगी हुई दुकान होते

धड़कते दिल तो हैं हमारे सीनों में
हसरत ही रही कि दिल में अरमान होते।

पंद्रह

चेहरे की हर नई सिलवट नया सवाल हुई
सूरत और भी पुरानी हर नये साल हुई

हरेक जगह नाम आपका ही लिखा गया है
और हर बार छाती हमारी इस्तेमाल हुई

बीज बोये थे चीनी की फसल के लिए मगर
गन्ने के खेतों में गेहूँ की बाल हुई

आपने अपने माथे पे लगा ली कैसे
हमारा खून मिला तो धूल जो गुलाल हुई

देखते ही देखते जो फरिश्ता बन गया
अदने से आदमी की इतनी मजाल हुई।

सोलह

छूने के लायक कोई ऊँचाई नहीं रही
डूबने के लिए कोई गहराई नहीं रही

मैंने अपने सर ले लिए सब इल्ज़ाम तेरे
अब तेरे नाम कोई बे-वफ़ाई नहीं रही

अफ़वाहों पे यकीन करने लगे हैं लोग
जैसे किसी झूठ की सच्चाई नहीं रही

उस घर से उठ रही हैं आग की लपटें
जिस घर में कभी दिया-सलाई नहीं रही

जिसे पाटने इक कुआँ खोद डाला हमने
कहने को हो गया कि अब खाई नहीं रही।

सत्रह

मेरी आँखों में नमी रह गई
मुझमें यही इक कमी रह गई

दिलों में रह गये मलाल बस
दिमागों में गलतफ़हमी रह गई

तारे गिनने को बचा आसमाँ
भटकने के लिए जमीं रह गई

हम-तुम आदमी न बन सके
जो बात थी लाज़मी, – रह गई।

अठारह

क्या कहें किस कदर तन्हाई है
धूप है यहाँ न कोई परछांई है

काँटों के हैं पहरे फूलों पर यहाँ
किसने कहा गुलशन में बहार आई है

रोशनी के नाम पर चिरागों ने
कितने घरों में आग लगाई है

अजब बात है कि दम घुटने लगा
किस कदर तेज हवा-पुरवाई है

सोच-समझ कर डूबे जिसे डूबना है
बहुत उथली यहाँ पर गहराई है।

उन्नीस

अपना ईमान बेच दिया बाजार में
सब कुछ जायज है व्यापार में

वो देंगे जानकारी मौसम की, जिनको-
पता नहीं फर्क वीराने और बहार में

झरोखों का काम करने लगे हैं अब
इतने हैं सुराख घर की दीवार में

इक दूसरे से मिलने की फुर्सत नहीं
क्या कमी है आदमी की रफ्तार में

गम की इक चिंगारी रख दी है
किसी ने मेरी खुशियों के अंबार में।

बीस

शहर से जो बे-दखल रहा है
अब बीहड़ में जाके पल रहा है

बदल रहा है किस तरह जमाना
ये सोचकर दिल दहल रहा है

मंजिल पाने के जुनून में, आदमी-
आदमी को ही कुचल रहा है

पता है, ये बद-सूरत जहाँ
एक खूबसूरत जंगल रहा है।

इक्कीस

मुझको यही एक बात समझ में नहीं आती
बस आदमी की जात समझ में नहीं आती

अँधेरों में तो होते हैं हादसे मगर
दिन-दहाड़े वारदात समझ में नहीं आती

जीत-हार के किस्से हमने भी सुने हैं
पर ये शह और मात समझ में नहीं आती

बचपन गया, जवानी गई, अब बुढ़ापे में-
जिन्दगी की शुरुआत समझ में नहीं आती

परियों के किस्से सुनाते हैं नौजवानों को
बुजुर्गों की करामात समझ में नहीं आती।

बाइस

न-इन्साफी के खिलाफ लड़ते हुए
मैं संवरता गया हूँ उजड़ते हुए

किस्मत ने चाहा तो फिर मिलेंगे
बस इतना कहा उसने बिछड़ते हुए

आंगन में उठा दी दीवार किसने
अच्छे थे हम घरों में झगड़ते हुए

इन भीगी पलकों को देखेगा कौन
सब देखते हैं घटा उमड़ते हुए।

तेईस

वार पे वार इस तलवार की हद क्या है
निहत्थों पे अत्याचार की हद क्या है

इक चिन्गारी ही बहुत है दुनिया के लिए
तो बताओ फिर अंगार की हद क्या है

जब दोस्त ही निगरानी शुरू कर दें तो
फिर बताइये पहरेदार की हद क्या है

जब पर्दे के पीछे सब छुप जायें
तो आखिरकार इस दीवार की हद क्या है

लोग अक्सर किनारे पे आके डूबते हैं
फिर न जाने इस मझधार की हद क्या है।

चौबीस

अब अगर इसी तरहा से मतदान होंगे
देखना एक दिन मंच की जगह मचान होंगे

कोई लड़ेगा यहाँ नाखूनों की दम पर
तो किसी के पास यहाँ तीर-कमान होंगे

कपड़े पहनना तो हमने सीख लिया है
लेकिन जाने कब हम अच्छे इन्सान होंगे

हल्के-हल्के चलते हैं जो झोंके हवा के
इन्हीं झोंकों के पीछे तो तूफान होंगे

इस कदर सूनी हैं महफिलें जब यहां की
तो फिर शहर यहां के कितने वीरान होंगे।

पच्चीस

खुला ऐलान नहीं मगर सुगबुगाहट तो है
आने वाले इन्कलाब की इक आहट तो है

इनमें मेरा अपना कोई नहीं, कहने को-
मेरे चारों तरफ लोगों का जमघट तो है

कहते हैं परेशानी की कोई बात नहीं
लेकिन बच्चे के माथे पे सिलवट तो है

माना कि इससे झोपड़ी में रोशनी होगी
छोटी ही सही मगर दीपक में लपट तो है

तरक्की के नाम पर अब कुछ हो कि न हो
मगर कागज पे खर्चे का पूरा बजट तो है।

छब्बीस

हमारा भी सुनहरा कल है
ये सच नहीं है सिर्फ अटकल है

पाँव न देखो कीचड़ से सने
देखो मेरे हाथ में कँवल है

बच्चे माँ से बिछड़ जाते हैं
यहाँ ये कैसी चहल-पहल है

घट गये कद जहाँ रहते हुए
देखो कितना ऊँचा महल है

जो एक जगह नहीं रह सकते
यहाँ उनके लिए दल-बदल है।

सत्ताईस

अब आप ही बताइये क्या कहूँ इस शहर के लिए
खुदा समझकर पूजते हैं लोग-बाग पत्थर के लिए

ख़ैरात में बाँटी गई हैं अपाहिजों को बैसाखियाँ
ये सहूलियत दी गईं उन्हें लम्बे सफर के लिए

हड्डियों को बेच डाला कि लकड़ियाँ खरीद लेंगे हम
क्या-क्या कुर्बानियाँ दीं हमने अपने घर के लिए

समन्दर में उबाल आने से खलबली मची है कि
कौन आयेगा पीने दोबारा इस जहर के लिए

आहों का अब तुम्हारी सब असर खत्म हो चला है
मैं दुआ करता हूँ तुम्हारी आहों में असर के लिए।

अट्ठाईस

दर्द जिनके आस-पास नहीं होता
उन्हें खुशियों का अहसास नहीं होता

क्या इंसान और क्या फरिश्ते
इनमें से कौन वक्त का दास नहीं होता

ये तो चाल-चलन की बात है- वर्ना
रास्ता कोई भी ख़ास नहीं होता

पर्दे के पीछे छुप जाने वालो
क्या कभी पर्दा-फ़ास नहीं होता।

उन्तीस

दिल में अब मत रखो मलाल लोगो
हिल-मिल के रहोगे खुशहाल लोगो

दिल से कोई काम मत लेना तुम
दिमाग का करो इस्तेमाल लोगो

ये खामोशी हद से बढ़ न जाये
खामोशी लाती है बवाल लोगो

अपने बाजुओं पे भरोसा रखो
होने वाला नहीं अब कमाल लोगो

कमतर होती जिन्दगी की खुशी में
मुबारक हो तुम्हें नया साल लोगो।

तीस

अब ये खबर सुनसान तक आई
गरीबी खतरे के निशान तक आई

झोपड़ियों में रह गया अँधेरा
रोशनी शीशे के मकान तक आई

अपनी मंजिल उम्र-भर न मिली हमें
ये दौड़-धूप अब थकान तक आई

बातों ही बातों में छिड़ी थी, जो-
बहस आखिर तीर-कमान तक आई

फिर वही बे-पनाह जंगल, फिर से-
ये दुनिया लौट के मचान तक आई।

इक्तीस

किसका है नाखून सबसे बड़ा देखो
इसी बहस में हो गया झगड़ा देखो

किसने ये सांस छोड़ी इधर से कि
उधर वो मकान गिर पड़ा देखो

दूसरों के पाँव काटकर, हो गया-
खुद अपने पैरों पर खड़ा देखो

पिछले सफर का किस्सा है इतना
काँटे भी चुभे, नाखून भी उखड़ा देखो

बत्तीस

चेहरे पे सिलवट माथे पे बल देखिए
क्या हो गया है बच्चों को आजकल देखिए

वाह-वाही लूट रहे हैं घुँघरू महफिल में
बदनाम हो रही है घर की पायल देखिए

गर आप नारों से भूख नहीं मिटा सकते
तो फिर जाइये कोई दूसरा दल देखिए

अजीब मौसम हो गया है शहरों का हमारे
बगीचों को मान रहे हैं सब जंगल देखिए

झोपड़ियों में रहते हैं लोग आदम-कद
बौने होते जा रहे हैं अब महल देखिए।

तेतीस

उलझी हुई सी इक पहली है जिन्दगी
आदमी की भीड़ में अकेली है जिन्दगी

हर-बार इसको मरना ही पड़ा है, मगर-
हर-बार मौत से खेली है जिन्दगी

खुशियों के बस दरवाजे लगे हैं इसमें
वर्ना गमों की इक हवेली है जिन्दगी

सदियों पुरानी हो चुकी है ये फिर भी
उतनी ही नई नवेली है जिन्दगी

ये बचपन से जवानी से बुढ़ापे तक
देखो तो कितनी अलबेली है जिन्दगी

किस्मत की लकीरों ने मुझसे कहा
तुम्हारे हाथ की हथेली है जिन्दगी।

चौंतीस

पुराने शहर में वो आदमी नया-नया हो शायद
चलो जाके मिलते हैं कोई अपना हो शायद

दुश्मनों से ज्यादा दोस्तों पे नजर रक्खो
ये सबक मुझे याद है तुमने भी पढ़ा हो शायद

वो अकेला पेड़ था अब अपने जंगल का, और-
वो पत्ता, - मौसम का आखिरी पत्ता हो शायद

मैं फँस गया यहाँ बुजुर्गवारों के बीच आके
ये सोचकर कि यहाँ कोई बच्चा हो शायद

अब यही इक रास्ता है कि रास्ता ही छोड़ दूँ
मंजिल तक पहुँचने का यही रास्ता हो शायद।

पैंतीस

फिर बस गई वहां बस्तियाँ फिर सनक गई हवा
कितनी झोपड़ियाँ थीं कि जिनको पटक गई हवा

कितनी रफ्तार से चली थी शहर से मगर
हमारे गाँव तक आते-आते थक गई हवा

जंगल में मिली थी एक दिन तो कितनी अच्छी थी
शहर की गलियों में आकर तो भटक गई हवा

कहीं लोग मर गये दम के घुट जाने से, और-
कहीं जलते मकानों की तरफ लपक गई हवा

ये भी क्या काम हुआ कि पहाड़ से उठा लाई
और रेगिस्तान में लाके पटक गई हवा।

छत्तीस

आदमी को पेशेवर होते हुए
गाँव देखा हमने शहर होते हुए

खुदा की तरह पूजे गये हैं यहाँ
जाने कितने लोग पत्थर होते हुए

औरों को रास्ता दिखाया हमने
ये काम किया दर-ब-दर होते हुए

धमकियों का असर देखा हमने और
दुआएँ देखीं बे-असर होते हुए

दोस्त आज़माये तो दुश्मन निकले
कुछ अपने निकले, दीगर होते हुए।

सैंत्तीस

हाथों से इतना काम लिया करो
गिरते हुए को थाम लिया करो

सर पे ताज होगा, ये दावा है
शर्त है कि सर पे इल्ज़ाम लिया करो

बख़्शीश देकर खरीद लेते हैं
सोच-समझकर इनाम लिया करो

इक मशविरा है कि दिल की बजाए
अपने दिमाग से काम लिया करो

इन्सान हो अगर यारो तो फिर
उस खुदा का भी नाम लिया करो।

अड़तीस

पेड़ का तना सूखकर लकीर हुआ है
या फिर यूँ कहो कि जंगल फकीर हुआ है

हँसिये हथौड़े फेंक, तू भी सिलवा ले
अब ये सफेद चोला तकदीर हुआ है

पत्थर से अब ख़ौफ जरा भी नहीं मगर
सुना है घास का तिनका तीर हुआ है

पुख़्ता किलेबन्दी की है प्यादों ने
एक चाल का मोहताज वज़ीर हुआ है

मुझे जाने से रोकते हैं तेरे आँसू
ये कैसा रिश्ता है कि जंजीर हुआ है।

उन्तालीस

दूर एक जंगल पनाहों का है
यहीं एक शहर आहों का है

हाथ कट गये दुआ करते हुए
एक देवता गुनाहों का है

मोड़ पर बिछड़ जायेंगे सभी
कि ये सफर चौराहों का है

कश्तियों का नहीं, ये मंजर तो-
डूबते हुए मल्लाहों का है

हमें फकीरों ने ये बताया
कि ये मुल्क बादशाहों का है।

चालीस

यूँ देखा लोगों को ताल्लुक बढ़ाते हुए
पहुँच जाते हैं गर्दन तक हाथ मिलाते हुए

हम इनको तोड़ने की जहमत उठाएँ क्यों
खुद-ब-खुद गिरते हैं तारे झिलमिलाते हुए

मेरा बोझ है कि बस बढ़ता ही जाता है
और उम्र है कि गुजर गई बोझा उठाते हुए

मैं क्यों-कर लगाऊँ इक और गुलशन यहाँ
कि मुझसे देखे नहीं जाते फूल मुर्झाते हुए

मुझसे मत पूछो मेरी नाकामी की वज़ह
मैं खुद गिर गया हूँ औरों को उठाते हुए।

इकतालीस

तेरी तलाश में किया जो, सफर समेट लूँ
अपने गुम हो जाने की इक-इक खबर समेट लूँ

तेरे संग गुजरा है जो वक्त—जी चाहता है
उसका इक-इक पल इक-इक पहर समेट लूँ

अब यही सही कि खुदा के नाम पर मैं भी
रास्तों में बिखरे हुए कुछ पत्थर समेट लूँ

इतना प्यासा हूँ कि सोचता हूँ मैं अब
डूबने से पहले सारा समन्दर समेट लूँ

इससे पहले कि दिल टूट जाये मेरा
क्यों न अपनी इन आहों में असर समेट लूँ।

बयालिस

मैं जब कर रहा था नदी पार
लो और तेज हो गई धार

घर को जब घर कहना चाहा
टूटी छत, दरक गई दीवार

मेरा सर अब कट कर रहेगा
मेरे सर पर है इक धुन सवार

इसलिए ली गई तलाशी मेरी
हवा है सीने में या गुबार

फरियाद जाने कब सुनी जाये
जाने कब लगे उनका दरबार

सांस लेते और छोड़ते हुए
अगर मैं बोला तो खबरदार

कविता

भीड़ का एकान्त

कविता संवेदनात्मक सहकार है

डॉ० श्याम सुंदर दुबे

हम जिस समय में जी रहे हैं क्या वह समय कविता के लिए उपयुक्त समय है? टूटती-बिखरती चीजें, आपाधापी के बीच पहचानहीन होता जीवन, विज्ञान की चरम शक्तियों को झूठा साबित करता हुआ प्रतिविज्ञान, मनुष्य की जगह स्थापित पशु, क्या किसी कविता को जनम देने की ये परिस्थितियाँ हैं? लगता है कि हम कविताविहीन समय में जी रहे हैं। लेकिन कविता फिर भी हो रही है। इसके मायने हैं कि मनुष्य होने की आश्वस्ति अभी भी शेष है। कविता इस समस्त टूटे-फूटे, निरंतर एक दूसरे को अस्वीकृत करते जीवन के संदर्भो से कुछ इस तरह से फूट रही है जैसे खिसलती-टूटती चट्टानों के बीच में से एक पतरी सी जलधार रिस रही है। इन चटकनों को नहलाती-धुलाती, उनकी आदिम प्यास को बुझाती, उनके दुख-दर्द को एक दूसरे से जोड़ती और उनके कानों में उनके होने की जिजीविषा को रेखांकित करती कविता अपने समय को यदि मात्र व्याख्यायित करती होती तो वह कविता नहीं होती। किसी अन्य शास्त्र की शक्ल में प्रकट होती और हमें सजग और सतर्क करती रहती। किन्तु कविता अनेक तड़कनो, अनेक चटकनों और अनेक विस्थापनों के बीच एक ऐसे महीन स्राव को पैदा करती है जो इन सबको एक-दूसरे से हिलाए-मिलाये रहता है। एक-दूसरे से बोलने-बताने की सुविधा प्रदान करता है। कविता के पास जब तक इस तरह बोलने-बताने की क्षमता है और जब तक उसके रिसाव में घावों को भरने के लिए वाष्पित अनुलेपन की क्षमता है तब तक कविता आदमी को बर्दाश्त करने की ताकत देती रहेगी। यदि हमारे पास बर्दाश्त करने की ताकत है तो हम बदलाव के लिए भी प्रतिश्रुत रहेंगे और कविता निरंतर हमें परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरने की आंतरिक चेतना प्रदान करती

रहेगी। एक लंबे काल तक समकालीन कविता में वातावरण का बोध तल्ख़ी के साथ आता रहा और इस तरह से अनुभव किया जाता रहा कि जैसे कविता केवल शिनाख़्त के लिए मुस्तैद की गई है। यह हमें चीजों की शिनाख़्त दे रही है, चीजों के व्यवहार के बीच खड़े मनुष्य को चयन की सुविधा दे रही है। कविता के स्वभाव ने कविता को दूरबीन बनाने का काम तो किया किन्तु उसे आँख की तरह आचरण नहीं मिल पाया। आँख में निहित दृष्टि केवल देखने का कार्य नहीं करती, वह एक तरह से परप्रत्यय का आत्म-प्रत्यय में प्रक्षेपण भी होती है। दृष्टि अपने भीतर संपूर्णता का एक आंतरिक संवाद है। संजय चौरसिया जब कहते हैं—सिर्फ आँखें ही देख सकती हैं कुएँ में झाँककर और नाप सकती हैं गहराई कुएँ की। मगर किसी की आँखों में आँखें डालकर देख लेना और नाप लेना गहराई किसी समुद्र की। वे आँखें जो सिर्फ देखती हैं आदमी का चलना और दौड़ना और वे आँखें जो देख लेती हैं सायों को भी रेंगते हुए, वे आँखें जिनसे परछाई भी बचकर नहीं निकल सकती। वे सिर्फ आँखें हैं जो पढ़ती हैं अखबार और किताबें और वे आँखें जो चेहरे पढ़ लेती हैं—

"ज्यादातर आँखें/सिर्फ आँखें होती हैं/बहुत कम होती हैं/गिनती की दस-बीस जोड़ी/आँखें/जो बन पाती हैं/दृष्टि।"

कविता चीजों के पार झाँककर उनकी सहृदयता को टटोलने का एक संवेदनात्मक सहकार है जो मनुष्य ही नहीं, मनुष्येत्तर समस्त संसार के लिए अपनी ऊष्मा में पिघलाती हुई उन्हें अपने आत्म-सत्यों में घोलती रहती है और व्यक्ति को ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड को व्यक्ति बनाने का सदैव उपक्रम करती रहती है। कविता के भीतर न कोई छोटा है, न कोई बड़ा है। वह तो कविता की भाषा में इस तरह फिकता रहता है कि उसकी नाप-जोख़ करना कठिन हो जाता है। अर्थात् कविता जहाँ व्यक्ति को उसकी सीमाओं से मुक्त करती है वहीं वह उसको अपने बोध में चराचर का स्वाद भी देती रहती है। मनुष्य होने के लिए मनुष्य होने का स्वाद रोटी के किसी कोने से ही लिया जा सकता है। संजय चौरसिया जब कहते हैं—

"क्या हवा खाकर/पानी पीकर/जिया जा सकता है/क्या ये कहना/बेमानी है कि/धरती और आकाश/के बीच/कोई रिश्ता भी है/या सिर्फ/हवा और पानी है।"

तब वे भाषा के माध्यम से उस सत्य को जानने का प्रयत्न करते हैं

कि धरती-आकाश और हवा-पानी में आदमी के होने का अहसास कराने वाला वह कौन सा आयाम है जो मनुष्य को पशु से अलग करता है—

"सभ्यताओं के/उत्थान और पतन का कारण/केवल रोटी है/क्या खाली पेट आग उगलता है/सच/भूखे आदमी का स्वभाव/पशुओं से/कितना मिलता है!"

मनुष्य को अपदस्थ करते षड्यंत्रों के बीच कविता एक ऐसी हिकमत है जो तमाम तरह की चतुराइयों के बीच अपनी सहजता से हमारे बचपन को बचाए हुए है, अपने भीतर दुबकाए हुए—यह बचपन जो घरों को घर बनाए हुए था, जिसकी आवाजाही घर में हवा की तरह थी, वह निःशेष हो चुका है। बच्चों में असमय जो एक सयानापन उभर आया है, वह कवि की दृष्टि से बच नहीं पाता है—

"घरों में/आने-जाने का चलन/हो चुका है बंद/अब लोग/जाने के नाम पर/घुसने लगे हैं।"

संजय चौरसिया अपनी कविताओं में कुछ ऐसी चिंताओं को पाले हुए हैं जिनमें आदमी के बचाव को रेखांकित किया जा सकता है—

"काटे जा चुके हैं/पेड़ इतने कि/शायद अगली पीढ़ी के पास/काटने के लिए/कुछ न बचे/हाथ, पाँव और/गर्दन के अलावा।"

हवा उस आग को तेज कर रही है जो फसलों और झोपड़ियों को जलाती है। उस जहरीली गैस को बहुत दूर तक भेज रही है जो लोगों के गले घोंटती है। उन घरों में घुस रही है जिनमें चिराग जल रहे थे और जले हुए चिराग अब गुल हो रहे हैं। यह हवा हमारा आज का स्वभाव है। लेकिन इन सबके बीच भी एक आश्वस्ति है जिसमें कवि का आशावाद भी समाहित है—

"हवा के बारे में/सोचते हुए/मुझे पता ही नहीं चला/कि मैं कब/पसीने में डूब गया"

लकड़ी पेड़ से कटकर आग बनती है, आग से रोटी सेंकी जाती है, आग से लोहा पिघलाया जाता है, धारदार हथियार बनता है और धुँआ है जो आग की खिलाफ़त करता है तो क्या आग को कटघरे में खड़ा किया जाये? इस हादसे में जड़ों और बुरादे के बयान इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि अंततोगत्वा जो कुछ भी सहना पड़ा है, वह इनको ही सहना पड़ा है। यह एक ऐसा रूपक है जिसमें आम मनुष्य को छिन्न-भिन्न, जड़विहीन करती हुई साजिशें हैं, जिसमें उसे राई-रत्ती करते हुए व्यवस्था के आरे और रुंदे हैं, जिसमें वह आग बनता

है तो रोटियाँ दूसरे लोग अपने तवे पर सेंकते हैं। यह हमारे भयानक समय की त्रासदी है। संजय चौरसिया एक सहज और आम फ़हम भाषा में अपने को व्यक्त करते हैं। इस भाषा में एक तात्कालिक विरोध दर्ज है जो बहुत भीतर धँसे हुए व्यंग्य को व्यक्त करता है। अक्सर वे विरोधी कथनों के माध्यम से चमत्कार पैदा करने की कोशिश करते हैं और उनकी भाषा में कहीं-कहीं चकमक पत्थर जैसी आग निकल पड़ती है। संजय चौरसिया की कविता विचार के स्तर पर अभी और प्रौढ़ता चाहती है जो अगले संकलनों में अभिव्यक्त हो सकेगी। किन्तु इन प्रारंभिक रचनाओं में भी वे धूमिल, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि का स्मरण करा जाते हैं। यदि वे अपनी सीमाएँ नहीं बनाते तो उनकी उपलब्धियाँ अपने समय से भी आगे जा सकती हैं।

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
शासकीय महाविद्यालय
हटा (म०प्र०)

गणतंत्र दिवस
26 1.2001

एक क्षण के लिए

एक क्षण के लिए
चौंधियाँ जाती हैं
आँखें-
जहाँ आज भी
तेज रोशनी में देखने की
अभ्यस्त नहीं हैं।
आज भी जहाँ
घनी बस्तियों में
पूजा होती है
सूर्य की।
बिजलियाँ-
जहाँ केवल
बरसात के मौसम में
चमकती हैं।

व्यावसायिक समाज में

व्यावसायिक समाज में
अपनी भरपूर लोकप्रियता
के साथ
प्रचलित है
दूसरे को मारकर
खुद जीने की
कला।

सभ्यताओं के चलते हुए
रोज-
ताजे और गर्म खून की
एक खुराक पर
जिन्दा।

संपूर्ण कायरता के साथ
धोखे से
किया गया वार
एक सफल
हत्यारा होने का
सबूत है।

मिठास

कम जरूर था
मेरी नसों में
खून मगर
साफ था
बचपन में
चर्म रोगों से
बचने के लिए
खाईं थी मैंने
खूब नीम की पत्तियाँ
शारीरिक विकारों से
बचने के लिए
चबाता रहा मैं कड़वाहट
जो कि-
मेरे मन में
इकट्ठी होती रही
एक मिठास की तरह।

भूखे आदमी का स्वभाव

इस बात को
यहाँ से शुरू
किया जा सकता है कि
क्या हवा खाकर
पानी पीकर
जिया जा सकता है।
क्या ये कहना
बेमानी है कि
धरती और आकाश
के बीच
कोई रिश्ता भी है
या सिर्फ
हवा और पानी है।
भाषा की सरलता और
अर्थ की सुविधा के लिए
बात छोटी है कि
सभ्यताओं के
उत्थान और पतन का कारण
केवल रोटी है।
क्या खाली पेट
आग उगलता है–
सच
भूखे आदमी का स्वभाव
पशुओं से
कितना मिलता है!

हवा में

मत करो
ऊँचाई की बात
वर्ना
गहराई तुमसे
छूट जायेगी
और फिर तुम
लटके रहोगे
किसी पेड़ की टहनी
पकड़ कर
हवा में
जैसे
चमगादड़
लटकी रहती है
पाँव होते हुए भी!

जो भाग नहीं सका

मैंने देखा
सारे शहर में
लूटपाट मची है
ऐसी कोई चीज
नहीं बची थी
जो लूटी न गई हो
मगर मैंने
ये भी देखा कि
पुलिस सायरन की गूँज
सुनते ही ऐसी भगदड़ मची कि
कोई पकड़ा नहीं जा सका
सिर्फ
उस एक लुटेरे के सिवा
जो
भूख से कमजोर
होने के कारण
भाग नहीं सका था
जिसकी तलाशी लेने पर
उसके पास से
बरामद हुई थीं
चार
सूखी रोटियाँ।

तितर-बितर

मैं मुग्ध होता था
उन बारिश की बूँदों को
देखकर
जो
बरसती थीं
बरसात के मौसम में
रिमझिम-रिमझिम
मैंने कभी
सोचा भी न था कि
ये पानी की बूँदें
जो कि
अलग-अलग होती हैं तो
कितनी मासूम लगती हैं
लेकिन जब
इकट्ठी होती हैं
तो बन जाती हैं
कोई नदी
कोई तालाब
या फिर
कोई समुद्र
जो डुबो देता है
किसी जलपोत को
मुझे हैरत है कि

ये पानी की बूँदें
बूँद होकर भी
इकट्ठी हो जाती हैं और
हम मनुष्य होकर भी
तितर-बितर।
अगर हो जाती
इकट्ठी हमारी प्यास तो
हम पी जाते
ऐसे
कई समुद्र और
न डूब पाता
कभी कोई जलपोत।

हमारा वर्तमान

अब कोई न देगा
दस्तक
तुम्हारे दरवाजे पर
तुमने मजबूत
ताले और
साँकल लगाने में
खर्च कर दिया इतना कि
कमजोर रह गईं दीवारें
तुम्हारे घर की।

वही बच्चे
जिनका फुदकना
अच्छा लगता था
बचपन में हमें
बड़े होकर
फाँदने लगे हैं
दीवारें।

घरों में
आने-जाने का चलन
हो चुका है बंद
अब लोग
जाने के नाम पर

घुसने लगे हैं

मैं सोचता हूँ
हमारा वर्तमान
अतीत का
नया संस्करण है
कभी घोड़ों की
टापों के नीचे
तो कभी
लोहे के पहियों और
नाल लगे
बूटों के नीचे
सड़कें तो
अब भी रौंदी जाती हैं।

तुम्हारी मृत्यु

तुम्हारे मरने जैसा तो
हमारा जीना भी नहीं है।
तुम्हारी मृत्यु
इतिहास के पन्नों पर
दर्ज कैसे हो गई
तुमने कहां से और
किससे सीखा
इतनी अच्छी तरह से
मर जाना!
मुझे बताओ मेरे दोस्त
तुम ऐसे कैसे जीते रहे कि
मारे नहीं जा सके और
मरकर भी जिंदा हो।
हम जिंदा तो हैं
मगर
जी नहीं पा रहे
हम भी मरकर
जीना चाहते हैं
बिल्कुल तुम्हारी तरह
मेरे दोस्त।

काटने के लिए

काटे जा चुके हैं
पेड़ इतने कि
शायद अगली पीढ़ी के पास
काटने के लिए
कुछ न बचे
हाथ, पाँव और
गर्दन के अलावा!

फसलें तो
कतई नहीं!

हवा के बारे में

कभी फसलों को
कभी झोपड़ियों को
जलाती हुई-
लपटों का साथ देती हुई

कभी जहरीली गैसों के संग-
गलों को घोंटती
कभी तूफानों के साथ
जलपोतों को डुबोती हुई
कभी घर के चिरागों को
बुझाती हुई।
हवा के बारे में
सोचते हुए
मुझे पता ही नहीं चला
कि मैं कब
पसीने में डूब गया।

बर्फ और पानी

शब्द
सन्नाटे की उपज होते हुए भी
शोर करते हैं
जहाँ शब्द की शुरुआत
सन्नाटे से होती है
सन्नाटे का अंत भी
वहीं हो जाता है
बर्फ से
नदी की जान को
खतरा है
बहता पानी बोलता है और
बर्फ नदी में सन्नाटा कर देता है
पानी
पानी भी है और
बर्फ भी
बर्फ - पानी को पानी से
तोड़ता है
फिर पानी को पानी से
जोड़ता है
शोर का होना दरअसल
वहाँ सन्नाटे का न होना है
जैसे- बर्फ

पानी में ही उपजता है
बहती नदी का शोर
बर्फ की खामोशी
दोनों पानी में मौजूद हैं।

जब बोलेंगी जड़ें

कितना आश्चर्य है कि
नये पेड़ लगाने और
पुराने पेड़ काटने का
हिसाब किताब-
लकड़ी के तख्तों पर ही
लिखा जाता है
जड़ें जिस दिन
बोलना सीख लेंगी
कुर्सी किसी के पास नहीं रहेगी
दरवाजे इतनी जोर से हिलेंगे
कि दीवारें भर-भरा कर गिर जायेंगी
जड़ें जब बोलेंगी
तो शहतीरें भी
चुप नहीं रहेंगी
छतों में
पड़ जायेगी ऐसी दरारें
कि कमरे में बैठे बैठे
आसमान साफ-साफ दिखेगा
जब तोता बोल सकता है तो
मुझे विश्वास है कि
जड़ें भी बोलेंगी
एक दिन जरूर।

किताबें

मैं देख रहा हूँ –
दीवारें –
जो कि अब
कागज के पन्ने
बनती जा रही हैं और
किताबें –
सिर्फ एक रद्दी का ढेर
जिनका वजन ही
उनका भाव तय करता है –
किताबें अब नहीं पढ़ीं जाती
इसलिए –
दीवारों पर लिखा जा रहा है।

चोर-सिपाही

चोर-सिपाही
एक खेल
मुझे भी खेलना आता है
मैंने भी सीखा है-
खुद को छुपाना और
छुपे हुए को ढूँढ़ निकालना
मैं भी भागता था
कभी-
न पकड़े जाने के लिए
मैं भी भागता था
कभी-
आगे-आगे
कभी-
पीछे-पीछे
बचपन में सबसे ज्यादा
रोमांचकारी लगता था
ये ग्रामीण खेल
जो कि
नगरों-महानगरों में
इतना विकसित हुआ कि
खेला जाता है-
हर गली-
हर मुहल्ले में
हर रोज-
हर पल।

आदमी

वे जो कहते हैं कि
ऐसा नहीं वैसा होना चाहिए
वे जो कहते हैं कि
यहाँ नहीं वहाँ होना चाहिए
मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि
वे हमें बताएँ कि
ऐसा नहीं
वैसा नहीं
तो कैसा होना चाहिए?
मैं उनसे पूछना चाहता हूँ कि
यहाँ नहीं
वहाँ नहीं
तो कहाँ होना चाहिए?
मैं बताना चाहता हूँ कि
रोता हुआ –
सोता हुआ –
खड़ा हुआ –
बैठा हुआ –
चलता हुआ –
रुका हुआ –
ऐसा या वैसा नहीं
यहाँ या वहाँ नहीं
जैसा भी हो
जहाँ भी हो
आदमी को सिर्फ आदमी होना चाहिए।

दृष्टि

आँखें
सबके पास हैं
सभी देखते हैं आँखों से
नीला आकाश
चाँद, सितारे
रिमझिम वारिश
रंग-विरंगी तितलियाँ
नदी और झरने
और न जाने ऐसी कितनी
चमकती चीजें
ये सब -
दिखाई देता है
आँखों को
अपने-आप
सिर्फ आँखें देखती हैं हम नहीं
ये सब दिख जाना है
देखना नहीं है
क्या तुमने कभी
अँधेरे को
अँधेरे में खड़े होकर
देखा है
क्या नजरें गड़ाकर
तुमने ऐसा कुछ देखा है
अँधेरे में कि -
आश्चर्य और अविश्वास से

तुम्हारी आँखों की
काली पुतलियाँ
फैल गईं हों
वे जो –
सिर्फ आँखे हैं
देख सकती हैं
कुएँ में झाँककर और
नाप सकती हैं
गहराई कुएँ की
मगर किसी को
आँखों में आँखें डालकर देखना और
नाप लेना गहराई
किसी समुद्र की
वे आँखें –
जो देखती हैं सिर्फ
आदमी का चलना और दौड़ना
और वे आँखें
जो देख लेती हैं
सायों को भी रेंगते हुए
वे आँखें जिनसे
परछांई भी
बचकर नहीं निकल सकती
वे सिर्फ आँखें हैं
जो पढ़ती हैं
अखबार और किताबें
और वे आँखें जो,
चेहरे पढ़ लेती हैं
ज्यादातर आँखें
सिर्फ आँखें होती हैं

बहुत कम होती हैं
गिनती की दस-बीस जोड़ी
आँखें-
जो बन पाती हैं –
दृष्टि।

बुरादे का बयान

धुएँ के खिलाफ
आग को कुछ नहीं कहना है
जो कुछ कहेंगी
जड़ें कहेंगी
इसलिए कि
पेड़ कटने की चश्मदीद गवाह
सिर्फ जड़ें हैं-
लेकिन
मुजरिम के कटघरे में
किसको खड़ा किया जाये?
उन हाथों को
जिसने रोटियाँ सेंकने के लिए
लकड़ियों को जलाया
या फिर
उस लुहार को
जिसने लोहे को पिघलाकर
धारदार बनाया
या फिर
उस बढ़ई को
जिसने कुल्हाड़ी को
डण्डा पहना दिया।
इससे पहले कि
अदालत

किसी नतीजे पर पहुँचे
बुरादे का बयान भी
मुकदमें में
दर्ज किया जाये।

बंद मुट्ठी

मैं कटकर गिरूँगा
टूटकर कभी नहीं
मैं पिघलकर
किसी ढलान की तरफ
बहने लगूँगा
मगर किसी साँचे में
नहीं ढलूँगा
मुझे कोई भी छू सकता है
पकड़ कोई नहीं सकता
मैं पानी में
गल सकता हूँ
डूब नहीं सकता
बंद मुट्ठी में कुछ हो या न हो
मुट्ठी का बंद होना बहुत कुछ है।

मैंने पत्थर उठाया

मैंने एक पत्थर उठाया और
निशाना साधकर
गश्त करते बंदूकधारी पर
फेंक दिया
मैंने गोली की आवाज के खिलाफ
ये कदम उठाया–
मैंने गोली की उस आवाज के खिलाफ
आवाज उठाई–
जो कर्फ्यू के वक्त
बच्चों और बूढ़ों में
फर्क नहीं समझती
मैंने उन सभी दस्तावेजों
की तरफ अँगुली उठाई
जिन पर हस्ताक्षरों की जगह
अँगूठे लगवा लिए गए।
दुनिया ने हाथ फैला दिये और
फैलकर दुनिया बड़ी हो गई
जब सब हाथ फैला रहे थे
मैंने अपने हाथ खड़े कर दिए और
मैं उनसे अलग हो गया
मैंने आवाज उठाई
मैंने अँगुली उठाई
मैंने पत्थर उठाया
मैंने अपने हाथ उठाये

मैं जानता था
ऐसा न करने पर
मुझे एक दिन बोझा उठाना पड़ेगा
अपने सर पर
अपनी पीठ पर।

अस्पताल

अक्सर
बीमारी का पता तब चलता है
जब मर्ज
लाइलाज हो जाता है
मैं सोचता हूँ
जहाँ 'जिला अस्पताल' लिखा है
वहाँ 'जिला जेल' भी लिखा होता
तो कोई फर्क पड़ने वाला नहीं था
जहाँ मरीज भर्ती नहीं किये जाते
कैद कर लिये जाते हैं
फिर एक दिन
किसी भी दिन
एक मुर्दा ले जाया जाता है
चीलघर की तरफ
संदेहों और आक्रोशों को
जन्म देता हुआ
एम्बुलेन्स वापस लौट आती है
नदी में नहाकर और
खड़ी हो जाती है अस्पताल में आकर
ठीक उसी तरह।

प्रगति के नाम पर

प्रगति के नाम पर हम
कुछ इस तरह आगे बढ़ रहे थे
जैसे
अपने पीछे खाई खोदते जा रहे हों
नदी में कपड़े धोये जा सकते हैं
नहाया नहीं जा सकता।
कुओं और तालाबों में
पानी से अधिक
मेंढक भरे हैं।
आदमी पेड़ से उतरकर
छत पर चढ़ गया और
आये दिन छत से छलाँग
लगा रहा है।
साँस ली नहीं जा सकती
सिर्फ खींची जा सकती है
फेंफड़ों को सबसे ज्यादा खतरा
हवा से है।
जिस मौसम में
खेतों की फसलें सूख गईं
अफसरों के बगीचे की हरियाली
मौसम को चुनौती दे रही थी।

भीड़ का एकान्त

मैं चल रहा था सबके आगे और
मेरे पीछे सब
चलते-चलते अचानक
मुझे लगने लगा कि
न मेरे पीछे कोई है
न मैं किसी के आगे
मैं एक ऐसी भीड़ की
अगुआई कर रहा था
जिसका न तो चेहरा था और
न पीठ
चल सभी रहे थे मगर
कोई किसी के साथ नहीं था
देखने में लगता था कि
सब इकट्ठे हैं मगर
सोचते हुए कहना पड़ा कि
झुण्ड जा रहा है
बोल सभी रहे थे
सुन कोई नहीं रहा था
एक अजीब तरह का खालीपन
जो मेरे अंदर शोर भर रहा था
शायद वो
उसी भीड़ का एकान्त था।

वन महोत्सव

जिस दिन कटेगा
जंगल का आखिरी पेड़
अगले वर्ष
उसी तारीख से
हम मनाने लगेंगे
एक उत्सव
वन-महोत्सव
कुछ इस तरह कि
पेड़ों के चित्रों की
लगाई जायेगी एक प्रदर्शनी
'ये इमली का पेड़ है'
'ये आम का पेड़ है'
'ये पीपल का पेड़ है'
हम अपने बच्चों को दिखाएँगे और बताएँगे
ऐसे ही कुछ और
पेड़ों के नाम

दो गैर सांप्रदायिक बातें

दो पाटों के बीच पिस रहे थे गेहूँ
जब चक्की आटा उगल रही थी
भूख ने आग उगल दी
दुनिया रोटी में बदल चुकी थी
पेट इतने खाली थे कि
खा कोई नहीं रहा था
सब निगल रहे थे
यही वो चीज थी जिस पर
मौसम के बदलने का
कभी कोई असर नहीं हुआ था
न तो इसे धूप सुखा सकी
न ही ठंड इसे जमा सकी
और न ही पानी इसे गला सका
मैं बता सकता हूँ
वे दो गैर सांप्रदायिक बातें
जिन पर 'विश्व एकता दिवस'
मनाया जा सकता है कि—
धरती पर अगर कोई चीज
सबसे अधिक पाई जाती है
तो वह सिर्फ भूख है
और सबसे कम 'रोटी'

जंगल

एक पूरा जंगल जो खप गया
किसी शहर में
बड़ी-बड़ी इमारतों की खिड़कियों और दरवाजों में
अब कौन लौटाएगा इन सूखी लकड़ियों को
उनका हरापन
जो कि खो चुका है
वार्निश के कई रंगों में
अब घर के चूल्हों से
उठता हुआ धुँआ नहीं मिलेगा देखने
सिवाय आगजनी के धुएँ के
अब मुर्दों को नसीब न होंगे लकड़ी के गट्ठर
मरने से पहले मैं लिख जाऊँगा
अपनी अंतिम इच्छा
कि मुझे दफनाया जाए
हिन्दू होते हुए भी।

एक महानगर की सुबह

मुर्गे की बाँग के बगैर भी
एक महानगर की सुबह हो जाती है
जहाँ कारखानों के कर्कश सायरनों की आवाज से
नींद खुलती नहीं है
टूट जाती है
ठंड में फुटपाथों पर
अनाथ बच्चे और झबरीले पिल्ले
एक दूसरे से लिपट कर सो जाते हैं
जहाँ जानवर और आदमी में होते हैं समझौते
यहीं पर 'तोते' आदमी का भाग्य बताते हैं।
जहाँ पर खत्म होती है महानगरों की ठोस जमीन
वहीं से शुरू होता है समुद्र का पानी
इन दोनों के बीच में जो बच जाते हैं—
तट रेत के ठीक उसी जगह
बेमौत मर जाती है इंसानियत
मैं जानता हूँ ऐसी ही और कई जगहों के नाम
जहाँ पर सबसे ज्यादा सच होती हैं—अफवाहें।



परिचय

नाम– संजय चौरसियां

पिता का नाम– श्री एम0 सी0 चौरसिया,
सेवानिवृत्त प्राचार्य

जन्मतिथि– 2-11-1965

शिक्षा– बी0 ए0

रुचियाँ एवं अन्य गतिविधियाँ–

विश्वविद्यालय प्रतिनिधि (यू0 आर0) छात्रसंघ पी0जी0 कालेज दमोह, विश्वविद्यालयीन 'कार्यकारी सदस्य' छात्र महासंघ, डॉ0 हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय सागर, महाविद्यालयीन खेल-कूद चैंपियन (1984-85), महाविद्यालयीन खेल-कूद केप्टिन (1985-86), भारतीय राष्ट्रीय छात्र संगठन (NSUI) के शहर अध्यक्ष (पूर्व), युवक कांग्रेस के पूर्व शहर अध्यक्ष, अखिल भारतीय इंदिरा युवक कांग्रेस (ति0) के पूर्व जिलाध्यक्ष, म0प्र0 युवक कांग्रेस के प्रांतीय महासचिव, जूडो-कराटे एवं मार्शल आर्ट्स विशेषज्ञ, रोमानिया क्रिकेट क्लब के संचालक एवं खिलाड़ी।

संप्रति– शिक्षक कालोनी
ब्यूटी जनरल स्टोर्स के सामने
दमोह (म0प्र0) 470661